अनन्तर/जनसत्ता/4 नवंबर, 2007

एक कदम पीछे

ओम थानवी

पिछले 'अनन्तर' पर शंभुनाथ ने प्रतिक्रिया भेजी है, जो इसी पृष्ठ पर प्रकाशित है। उस पर यह मेरा निवेदन।

शंभुनाथ ठीक कहते हैं। एक पैर पीछे चला गया। पर फंसा नहीं है। चलते रहने के लिए एक पैर पीछे रखना जरूरी होता है। दोनों पैर आगे उठाएंगे तो कहां पहुंचेंगे? फिर, आचार्य रामचंद्र शुक्ल का चिंतन उन्नीसवीं सदी की बात नहीं है। वह बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध था। उसे ज्यादा वक्त नहीं हुआ है। अभी इक्कीसवीं सदी में ठीक से पांव भी नहीं जमे और बीसवीं सदी हमें पवित्र अतीत लगने लगी!

उन्नायकों के प्रति श्रद्धा हम सबमें है। मैं शुक्लजी का कम मुरीद नहीं। याद करें, मैंने अपने पहले लेख के आरंभ में शुक्लजी के चमत्कृत करने वाले विशद ज्ञान, गहरी विद्वत्ता, सशक्त भाषा, साहित्य की अनूठी विश्लेषण क्षमता, सौंदर्यशास्त्र के अद्वितीय विवेचन आदि की चर्चा की थी। भाषा पर चिंतन उनके व्यापक कर्म का एक छोटा हिस्सा है। पर उसमें गंभीर पेचीदगी है। उसे देखने में क्या बुराई है? इस पर मौन साधना क्या मामूली अतिवाद है? भक्ति और अंधभक्ति में फर्क होता है। ऐब देवताओं में भी होते हैं। उस तरफ देखना उन्हें नीचा देखना नहीं है। समग्र कृतित्व छपते इसीलिए हैं कि किसी दाय को हम समग्रता में देख सकें।

अतीत की सभी परंपराएं सीधी नहीं होतीं। जो गड्डमड्ड होती हैं, वे दीख जाती हैं। कभी हम उनसे सीख लेते हैं, कभी नजरअंदाज कर जाते हैं। मैंने आचार्य शुक्ल को 'ऐतिहासिक विकास' में ही देखने की कोशिश की है, उससे बाहर नहीं। इतिहास की कई धाराएं होती हैं। कोई विकास इकहरा नहीं होता। हिंदुत्व की बात मैंने नहीं उठाई। हिंदूपन, मुसलमानी भाषा, उर्दू का बेढंगापन, स्वच्छ शुभ्र आर्य भाषा, हिंदी से हिंदू-धर्म की रक्षा, हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान मेरे गढ़े हुए जुमले नहीं, आचार्य के अपने शब्द हैं। उन्हें कहीं गलत उद्धृत कर गलत अर्थ निकाला गया हो तो जरूर बताएं। वरना दौर और परिस्थिति की मनःस्थिति वाले वही-वही स्वांतःसुखाय तर्क तो न दें।

डॉ. नामवर सिंह ने 'दूसरी परंपरा की खोज' में पच्चीस साल पहले लिखा थाः ''... शुक्लजी का 'लोकधर्म' वस्तुतः 'आर्य शास्त्रानुमोदित' सनातन धर्म ही है।'' उन पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

को उठाने के लिए शुक्लजी को गिराने जैसे आरोप लगने लगे, जिनका खंडन उन्होंने ग्रंथावली के लोकार्पण के रोज भी किया। विद्वानों तक के विवेचन हिंदी में पचते नहीं हैं। मैं अदना पाठक हूं। मगर मैंने आदर और तन्मयता से शुक्लजी को पढ़ा है। मुझे हिंदी की बहसों को देख-सुन कर यह अनुभव होने लगा है कि वे पक्षधरता से मुक्त नहीं हो पातीं। अपनी दलीलों को हम दुहराते कब तक रह सकते हैं?

जैसा पहले कहा, शुक्लजी का दौर बीसवीं सदी का वह दौर था जिसमें राष्ट्रीय आंदोलन पुरजोर था। हिंदू-मुसलिम एकता वक्त की पुकार थी। गांधीजी वाली कांग्रेस का वह प्रमुख लक्ष्य था। यह मानना कि भारत जागरण के उस दौर में हिंदूवादी मनःस्थिति ही व्याप्त थी, इतिहास को सिरे से झुठलाना है। कट्टर हिंदू और कट्टर मुसलिम लोग दोनों कौमों में थे, पर सार्थक भूमिका उनकी थी जो उदार नजरिया रखते थे और अंगरेजों से जूझने के साथ देश को टूटने से बचाने की कोशिश कर रहे थे। हिंदी-उर्दू का झगड़ा इस गरज से सुलझाने की कोशिश करने वालों की तादाद इतनी बड़ी थी कि नाम गिनें तो यह सारी जगह उसी सूची से पट जाएगी। उनमें राजनेता ही नहीं थे, लेखक, पत्रकार, कवि-कथाकार कई तबकों के लोग थे। न होते तो हिंदी-उर्दू के पैरवीकार शिद्दत के साथ सक्रिय क्यों हुए होते? बहरहाल, हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान का नारा पिट गया। पर उसी धारा पर बने पाकिस्तान का जो हश्र हुआ, वह हमारे सामने है।

शंभुनाथ ने हिंदी की 'स्वतंत्र आत्म-पहचान' और 'स्वतंत्र अस्तित्व' की बात उठाई है। यह वही ''शुद्ध हिंदी'' की पक्षधरता है। एक स्तर पर बीसवीं सदी के आचार्यों के हिंदी-शुद्धीकरण और आर्य समाज के हिंदू-शुद्धीकरण में बहुत भेद नहीं था। हिंदुस्तान की ''हिंदुओं के आचार-विचार और प्राचीन गौरव'' की अभिव्यक्ति, आचार्यों के मुताबिक, हिंदी में ही संभव थी। उर्दू ''हिंदू जीवन से कोई लगाव नहीं'' रखने वाली भाषा थी। इसलिए उनका जोर 'सह-अस्तित्व' के बजाय 'स्वतंत्र अस्तित्व' पर ज्यादा था।

जबकि जितना मैंने समझा है, हिंदी की पहचान को उर्दू से कभी खतरा नहीं था। उर्दू से हिंदी में आ जुड़ने वाले शब्दों की तादाद आधा प्रतिशत भी नहीं होगी। मगर उनसे हिंदी की शब्द-संपदा बढ़ी है। इससे भाषा का हित हुआ है, अहित नहीं। याद रखें, 'स्वतंत्र' वही रह सकता है जो कभी भयभीत नहीं होता। खुद 'हिंदी' शब्द अरबी भाषा का है और 'हिंदुस्तानी' भी। भाषा की 'स्वतंत्र पहचान' के लिए क्या हम 'हिंदी' की जगह कोई दूसरा स्वतंत्र शब्द रखना चाहेंगे?

आचार्य शुक्ल जैसे विद्वानों को उर्दू से बेचैनी इसलिए थी कि वह हमारे यहां, उनके देखे, पराई और 'विजातीय' शब्दों से बनी भाषा थी; और उसके साहित्य में 'विदेशी भावों का भंडार' था। आप कहते हैं उन्होंने भाषा का रिश्ता मजहब से न जोड़ते हुए इतिहास में कबीर, जायसी को जगह दी। उर्दू

मात्र को मजहबी मकसद वाला कैसा सुविचारित आविष्कार शुक्लजी बताते हैं, उन्हीं के शब्दों में देखिएः ''मुसलमान पहले अपने मजहब की तालीम के लिए थोड़ी अरबी फारसी मिली एक खास ढंग की हिंदी काम में लाए, फिर धीरे-धीरे... जनता से अपने को बिलकुल अलग दिखाने के लिए मुसलमानों ने ही अपने लिए विदेशी ढांचे की एक अलग भाषा और (उसका) साहित्य खड़ा किया।'' जायसी पर अपनी अपूर्व टीका लिखते वक्त उन्होंने कवि की एक विशेषता यह बताई कि उसने ''मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियां हिंदुओं की बोली में'' लिखीं। यानी उर्दू मुसलमानों की भाषा, हिंदी और उसकी बोलियां हिंदुओं की!

शुक्लजी के भाषिक आग्रह में हिंदी को उर्दू से बचाकर उसकी ''आत्म-पहचान''सुरक्षित रखने की चिंता भर थी, तो वे इस बात का गिला क्यों करते थे कि उर्दू में संस्कृत के घर-गांव में बोले जाने वाले शब्द क्यों नहीं लिए जाते? जैसे आप अपनी भाषा की 'पहचान' के लिए फिक्रमंद हैं, और भी होंगे। वास्तविकता यह है कि दोनों तरफ से अथक कोशिशों के बावजूद ऐसा हुआ नहीं। जैसे हिंदी में अपनी ध्वनियों से मेल खाते फारसी-अरबी के शब्द हैं, उर्दू में भी संस्कृत और हिंदी बोलियों के दुख, सुभाव, बरसगांठ, बचन, अलाप, शूल जैसे ढेर शब्द मौजूद हैं।

संस्कृत में उदक (जल) और ओक (मकान) दो अलग शब्द हैं। लेकिन गालिब के यहां 'उदक' कैसा 'ओक' हो गयाः 'पिला दे ओक से साकी...!' ठीक वैसे जैसे अरबी का अमीर-उल-बह्र (समुद्र का कप्तान) प्रयोग फ्रेंच में होते हुए अंगरेजी में पहुंचकर 'एडमिरल' हो गया। दुनिया की तमाम भाषाओं में शब्दों की विवेकशील आमद-रफ्त ने उन्हें सशक्त और बड़ा बनाया है। ये वे शब्द हैं, जो भाषा में नहीं थे। लेकिन ऐसे शब्द भी भाषा की रौनक-रवानी बढ़ाते हैं जिनके पर्याय भले पहले से मौजूद हों। कायदे से भाषा में कोई शब्द किसी का पर्यायवाची नहीं होता; हर शब्द अपनी छटा, रंग, गंध और धुन साथ लेकर आता है। उसकी अनिवार्यता बरतने या भोगने वाला ही ताड़ सकता है। इस बात को हिंदी में अंगरेजी की मौजूदा घुसपैठ से जोड़कर देखना ठीक नहीं है। उसमें विवेकहीनता और लापरवाही है। या हिंदी ठीक से न जानने वालों की सीमा और चलताऊपन।

शंभुनाथ कहते हैं शुक्लजी उर्दू को आदर देते थे। दुर्भाग्य से आचार्य उसका तिरस्कार करते थे। उन्होंने न कभी उर्दू साहित्य में आस्था प्रकट की, न भाषा में कोई खूबी देखी। वे अरबी-फारसी के प्रचलित शब्दों के हिंदी में प्रवेश की बात कहते थे, पर इसे लेकर गहरी गांठ थी। उन्हें फिक्र थी कि इतना प्रवेश न हो कि हिंदी की ढब बिगड़ जाए। सो हिंदी में शुमार उर्दू शब्दों के औचित्य पर वे सवाल उठाते रहते थे। 1938 में जाकर ''हिंदुस्तानी'' के पक्ष में उन्होंने कुछ उदारता जाहिर करनी चाही ('हिंदी और हिंदुस्तानी' निबंध), लेकिन किस तरह? शब्दों के सशर्त लेन-देन में बाकायदा एक सांकेतिक सूची बनाते हुए ''नित्य'' बोले जाने वाले जो संस्कृत शब्द उन्होंने सुझाए उनमें युक्ति, शोच, औषध, शीत, पराक्रम, पौरुष, मनोरथ जैसे शब्द भी थे।

वास्तविकता यह है कि ''नित्य प्रयोग'' में तरकीब, सोच, दवा, सर्दी, बहादुरी, मर्दानगी, चाह जैसे शब्द पहले से चलन में थे। हम यह भी जानते हैं कि कविता को छोड़कर शुक्लजी पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग को गैर-जरूरी समझते थे। 'युक्ति-औषध' जैसे शब्द ''साधारण लिखापढ़ी, अदालती व्यवहार और बोलचाल'' में सुझाने के पीछे उनकी मंशा क्या भाषा को सचमुच सरल-साधारण बनाने की थी? अगर उनके सुझाए शब्द पहले से ''नित्य प्रयोग'' में थे तो उन्हें फिर से चलाने की क्या दरकार थी?

इसलिए एकाध कथन को नहीं, खयालों को संपूर्ण व्यक्तित्व की संगति में देखना चाहिए। अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग वाली भाषा को आचार्य शुक्ल ने 'म्लेच्छ भाषा' बताया। उर्दू को साफ तौर पर मुसलमानों की, कृत्रिम, विदेशी आदर्शयुक्त, प्रकृति-विरुद्ध, दरबारी भाषा करार दिया और कहा, ''देश में उर्दू फैलाना मानो एक तरह से मूर्खता फैलाना है।'' हिंदी को उन्होंने हिंदुओं की देशी, शिष्ट, स्वाभाविक और असली भाषा ठहराया है। यह दृष्टिकोण किस तरह ''जनतांत्रिक, समावेशी और पारस्परिकता भरा'' है? ''अपनी-अपनी'' भाषा का भेद स्पष्ट करते हुए वे ''हिंदी साहित्य की विभूति'' और उनके साहित्य के ''मनोरंजन'' की बात कर कहते हैं कि ''एक से दो रहें तो और अच्छी बात है''। यह भाषा के स्वतंत्र अस्तित्व की चिंता भर नहीं है, जितनी दौ कौमों की दो अलग भाषाएं बताना और उनमें रचे साहित्य और संस्कृति को पूरी तरह जुदा करके देखना।

इस संबंध में प्रेमचंद, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी या गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे लेखक-पत्रकार हुए जो हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को धर्म से बरी रखकर देखते थे। प्रेमचंद ने तो यहां तक कहा कि उर्दू ''लिखने और पढ़ने का हक दोनों को हासिल है। हिंदुओं का उस पर हक पहला है, क्योंकि वह हिंदी की एक शाखा है, हिंदी पानी और मिट्टी से उसकी रचना हुई है।'' उर्दू में भी मौलवी मुहम्मद हुसैन आजाद- 'आबेहयात' के मशहूर लेखक- जैसे लोगों की कमी नहीं थी जो निस्संकोच कहते थे कि ''संस्कृत और ब्रज-भाषा की मिट्टी से उर्दू का पुतला बना है। बाकी जुबानों के अलफाज ने खत व खाल (रूपाकृति) का काम किया है।'' ऐसे लोगों ने भाषा को धार्मिक तनाव से दूर रखने की कोशिश की। मगर जुझारू लोग दोनों तरफ अपने-अपने मोर्चे छोड़ने को तैयार नहीं हुए। एक भाषा, जो दोनों समुदायों को जोड़े हुए थी, 'स्वतंत्र अस्मिता' के कुचक्र का शिकार हो गई। जुझारू विद्वानों द्वारा बड़े जतन से ढोकर लाई गई शास्त्रीय शब्दावली ने पारस्परिक सह-अस्तित्व की संभावना और झीनी कर दी।

जाहिर है, शब्दों ही नहीं हिंदू भावों को सुरक्षित रखने के लिए शुक्लजी हिंदी को उर्दू से दूर रखने का यत्न कर रहे थे। इसीलिए ''राम, लक्ष्मण, सीता, सावित्री, नल-दमयंती संबंधी रोम रोम में भरे हुए आवेग को निकाल कर शीरीं फरहाद और लैला मजनूं का सबक'' उन्हें सालता था। ''हाय पंचनद-

हा पानीपत'' सरीखे काव्य में इसीलिए वे ''प्राचीन हिंदू दृश्य'' की प्रतिष्ठा देखते थे और इसे न देख सकने वाले को ''स्तब्ध और जड़ हिंदू'' मानते थे। यही उनकी 'हिंदू चित्तवृति' थी। आप चाहें तो जरूर इसे उनका ''बहुलतावादी'' अभिप्राय कहें या यह कि वे हिंदी के गौरव के लिए ''लड़'' रहे थे!

शंभुनाथ ठीक कहते हैं कि गांधीजी भाषाशास्त्री नहीं थे। लेकिन उन्होंने भाषा पर बहुत चिंतन किया था। यह सिलसिला 1909 में 'हिंद स्वराज' से शुरू हुआ और 1948 में मृत्यु से पांच रोज पहले तक चला। गुजराती उनकी मातृभाषा थी; अंगरेजी पर अधिकार था। पर वे- चाहे किसी नाम से- हिंदी के समर्थक थे।

भाषाएं लोगों की जुबान पर तैयार होती हैं। उन पर पहला हक उन्हें बोलने वालों का होता है। व्याकरण बाद में बनता है, भाषाशास्त्र की भूमिका भी आगे पेश आती है। भाषा को भंगिमा आम लोग देते हैं या फिर उसके लेखक। पेशेवर भाषाशास्त्री और आलोचक-प्राध्यापक उसमें रंग नहीं भर सकते। उनसे हमें दृष्टि मिलती है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गांधीजी ने भाषा में जो संप्रेषणीयता प्रतिपादित की, कोई भाषाशास्त्री या आलोचक कर पाएगा?

क्या शुक्लजी भाषाशास्त्री थे? शुक्लजी समाजशास्त्री या राजनीति के व्यक्ति भी नहीं थे। लेकिन अगर उन्हें गांधी की अहिंसा, असहयोग और सत्याग्रह की सार्वजनिक तौर पर निंदा करने का हक था तो सामुदायिक वैमनस्य की चीज बन चली भाषा के बारे में बोलने का हक गांधीजी को क्यों नहीं था?

हिंदी साहित्य सम्मेलन ने सभापतित्व के लिए गांधीजी को क्यों आमंत्रित किया था? हिंदी-हिंदुस्तानी विवाद से विचलित होकर उन्होंने सम्मेलन से अलग होने का मंतव्य प्रकट किया तो टंडनजी ने उनसे सम्मेलन में बने रहने की गुजारिश की। वे आम लोगों में बोली जाने वाली साझा जुबान की बात कर रहे थे। गांधीजी भाषा को समाज के टुकड़े करने का जरिया नहीं बनने देना चाहते थे। राष्ट्र की एकता और आपसी संवाद बड़े लक्ष्य थे। सबको समझ आ सके और सब काम दे सके, वे ऐसी राष्ट्रभाषा चाहते थे। उन्होंने साहित्य की भाषा को बदलने की बात कभी नहीं कही। न वे यह पाठ पढ़ा रहे थे कि कविता की भाषा कैसी हो। सब जानते हैं उर्दू-हिंदी/हिंदुस्तानी के हिमायती होकर भी वे तुलसीदास के प्रशंसक थे, उर्दू शायरी के नहीं।

खेद की बात है कि महात्मा गांधी के संघर्षशील व्यक्तित्व की जड़ें आचार्य शुक्ल यूरोपीय दीक्षा (?) में देखते हैं। असहयोग आंदोलन की चरम ख्याति के वक्त 1921 में प्रकाशित 'नॉन कोऑपरेशन एंड द नॉन मरकेंटाइल क्लासेज' लेख में अहिंसा, स्वराज्य और असहयोग की आलोचना ही नहीं है- जिसमें किसी को क्या हर्ज- वह घोर वर्णवादी आलेख भी है। गांधी और राष्ट्रीय आंदोलन उसमें निशाना

हैं और जाने-अनजाने लेख अंगरेज शासकों को संबोधित जान पड़ता है। वे कहते हैं, बनियों और दूसरी व्यापारिक श्रेणियों के आक्रमणों (शोषण) की वजह से गैर-व्यापारिक जातियों ने अंगरेजी शिक्षा का लाभ उठाकर ब्रितानी हुकूमत की सेवा कर अपने आत्मसम्मान को बचाया। ''ब्राह्मण, क्षत्रिय, कायस्थ और कुछ दूसरे लोग पीढ़ियों से भारत के प्रशासनिक ढांचे का अंग रहे हैं... सत्ता उनके जीवन का सार है... उनके लिए सत्ता ही धन है, धन में सत्ता वे नहीं देखते।... शिक्षित मध्यवर्ग कहे जाने वाले तबके का बड़ा भाग वे ही हैं। सरकार को सहयोग करना वे अपना अधिकार समझते हैं। उनका अ-सहयोग (इस) सहयोग में ही निहित है। उनमें ज्यादातर की जमीनें जा चुकी हैं और उन्होंने शहरी आदतें अर्जित कर ली हैं। उनके बेटे सरकार की सेवा में जगह नहीं पाएंगे तो कहां जाएंगे?''

क्या यह अजीब बात नहीं है कि आचार्य एक तरफ पंजाब में क्रांतिकारियों पर जुल्म ढाने वालों को सजा देने और बदला लेने की बात कहते हैं, दूसरी तरफ ब्राह्मण-कायस्थों और छोटे जमींदारों की ब्रितानी सत्ता में भागीदारी की वकालत करते हैं? साफ बात यह है कि जलियांवाला बाग के बहाने उनका ध्येय ''कोरे शोर भरे'' और ''अनिश्चित'' असहयोग आंदोलन की निंदा करना ज्यादा था। आचार्य 'शिक्षित मध्यवर्ग' के हित-चिंतक थे। क्रांतिकारियों में ''आस्था'' का ठोस प्रमाण उनके जीवन और लेखन में अन्यत्र नहीं मिलता।

शंभुनाथ कहते हैं कि आचार्य शुक्ल पूंजीवाद-विरोधी होने की वजह से गांधीवादी रास्ते से असहमत थे। गांधीजी पूंजीवादी थे, यह हास्यास्पद अवधारणा है। सारी दुनिया को अपने प्रभाव से चमत्कृत करने वाला हमारा राष्ट्रीय आंदोलन केवल व्यापारिक श्रेणियों का आंदोलन नहीं था। व्यापक जन-मानस उसमें उमड़ पड़ा था। देश में दूसरे किसी आंदोलन को किसानों का उतना समर्थन हासिल नहीं हुआ, जितना महात्मा गांधी के आंदोलन को। इस बात को भगत सिंह ने भी स्वीकार किया था। ऐसे आंदोलन को भी जातिवादी नजरिए से देखने वाला आचार्य शुक्ल का विवेचन गांधी के सही मूल्यांकन में ''चूकना'' भर नहीं है। जो हो, इस प्रसंग का भाषा की बहस से दूर तक ताल्लुक नहीं है।

प्रेमचंद, निराला और प्रसाद का हवाला शंभुनाथ ने दिया है। क्या इन विभूतियों ने किसी दूसरे समुदाय को- वह भी भाषा को मुद्दा बनाकर- कभी नीचा दिखाने की कोशिश की? इस बहस में उनकी आड़ लेना अजीब जान पड़ता है। शुक्लजी ने तो अपने पिता पर चढ़ी 'मुसलिम संस्कृति' की तहें तक गिनी थीं। मांसाहार को भी उन्होंने मुसलिम संस्कृति से जोड़कर देखा। फारसी-उर्दू की तालीम पाने वाले लोगों के बारे में यहां तक कह गए कि वे चरित्रहीन होते हैं, दूसरे (पतित) समाज में आनंद ढूंढ़ते हैं!

हिंदी-उर्दू के 'मिश्रण' की बात मैंने नहीं की। भाषा चूर्ण नहीं है, कूट-पीस कर जिसका मिश्रण तैयार कर दिया जाय। उर्दू दूर की भाषा नहीं है, जैसे अंगरेजी है। उर्दू यहीं पैदा हुई और पनपी। उसका व्याकरण, क्रिया-पद, संज्ञा-पद और कारक-चिह्न हिंदी के हैं। हिंदी की तरह उर्दू की बुनियाद इसी

जमीन में है। वह धर्म विशेष की जुबान की तरह विकसित नहीं हुई। धार्मिक या सांप्रदायिक झगड़ों का शिकार जरूर बनी। भाषा का ताल्लुक धर्म से नहीं, इलाके से होता है। याद दिलाना उचित होगा कि पंजाब में हिंदू-मुसलमान और सिख सब पंजाबी बोलते आए हैं, हिंदी नहीं; केरल के ईसाई और हिंदू-मुसलमान मलयालम बोलते हैं, उर्दू नहीं। यह जानी हुई बात है कि उर्दू के प्रतिष्ठित शायर 'फैज' और 'इकबाल' घर में पंजाबी बोलते थे।

यह कोई नहीं चाहता कि दो भाषाओं की स्वतंत्र पहचान मिटा दी जाए। दोनों तरफ के विद्वानों ने एकांगी तर्क-वितर्क में भाषाओं को पहले ही बहुत दूर पहुंचा दिया है। खासकर विशिष्ट क्षेत्रों- जैसे साहित्य या विचार- में दोनों की धारा जुदा है। वहां भाषा का एक स्तर या रूप नहीं चलता । प्रेमचंद 'कफन' या 'गोदान' उस भाषा में नहीं लिख सकते थे, जिसमें प्रसाद ने 'स्कंदगुप्त' या 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना की। भाषा का रंग प्रयोजन, संदर्भ और परिप्रेक्ष्य के अनुसार बदल जाता है, कथ्य के मुताबिक भी।

लेकिन भाषा की खास या बारीक पहचान तभी दरकार है जब उससे बड़े काम लेने हों। असल बात यह थी कि बोलचाल में वृहत्तर हिंदू-मुसलिम समाज में जो साझा जुबान आम तौर पर बोली जाती है, उसे किताबी भाषा या ''स्वतंत्रता'' के घेरे में क्यों रखा जाए? वह 'मिश्रण' या 'मिलावट' की नहीं, मेल-मिलाप वाली मिली-जुली जुबान है। इसीलिए कमाल अहमद सिद्दीकी जैसे लोग कहते हैं कि ''बोली जाने वाली जुबान ही लिसानियात (भाषाशास्त्र) में जुबान है।''

उर्दू सिर्फ मुसलमानों की जुबान नहीं है, इस संदर्भ में मैंने उर्दू में लिखने वाले अनेक हिंदू लेखकों का जिक्र किया था। उनमें एक फिराक गोरखपुरी का यह भी कहना थाः ''यह समझना भ्रम होगा कि हिंदी शब्दों में केवल अरबी और फारसी शब्दों को मिला देने से उर्दू बनी है। शत-प्रतिशत हिंदी शब्दों से बनी उर्दू गद्य और कविता की किताबें मिलती हैं। वस्तुतः खड़ी बोली हिंदी को एक विशेष ढंग से या एक विशेष शैली में प्रयोग करना उर्दू है...।'' उन्होंने उर्दू के दर्जन भर उदाहरण इस बात के समर्थन में दिए, जिनमें 'गालिब' का शेर भी हैः

बोझ वो सर से गिरा है कि उठाए न उठे
काम वह आन पड़ा है कि बनाए न बने

'फिराक' की अपनी शायरी में ऐसे कई शेर मिलेंगे। 'रूप' की रूबाइयां तत्सम और तद्भव शब्दों से भरी हैं। आरजू 'लखनवी' का एक गजल-संग्रह ''सुरीली बांसुरी'' ऐसा है, जिसमें एक भी शब्द अरबी या फारसी का नहीं है।

उर्दू में एक दिग्गज शायर सैय्यद इंशाअल्ला खां 'इंशा' हुए। दिलचस्प बात है कि वे उर्दू अदब की शोभा तो हैं ही, आचार्य शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में भी उन्हें इज्जत बख्शी है! वजह यह है कि इंशा ने 'रानी केतकी की कहानी' ऐसी सरल भाषा में लिखी, जिस पर दोनों भाषाएं दावा रखती हैं। शुक्लजी ने दावा इस जानकारी के बावजूद किया कि ''फारसी के ढंग का वाक्यविन्यास'' उस कहानी में कहीं-कहीं मौजूद है। हालांकि उस रचना की लिपि भी फारसी थी।

'इंशा' ने, दरअसल, भाषाई खींचतान की कोशिशों को सबक सिखाने की गरज से बोलचाल की भाषा में वह कहानी लिखी थी। उस अनूठी भाषा का सबब उन्होंने इस तरह बयान किया थाः ''एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले... भाखापन (संस्कृतनिष्ठ) भी न हो। बस, जैसे भले लोग- अच्छों से अच्छे- आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे, छांह किसी की न हो।''

उस छुट-हिंदवी जुबान को मैंने भारत में हमेशा और गए साल पाकिस्तान में भी सुना। पढ़े-लिखे लोगों में शब्दों का थोड़ा भार जरूर आ जाता है, वरना दोनों देशों में आज भी सामान्य बातचीत, खरीद-फरोख्त या बहस-मुबाहिसा उस आम जुबान में संभव है। आप ठेठ हिंदी बोलें, पाकिस्तान में यह जुमला सुनने को मिलेगा- ''माशाअल्लाह! आपकी उर्दू बहुत उम्दा है।'' इधर पाकिस्तान के नागरिक भी जब जनपथ पर खरीदारी करते हैं तब भाषा से उनकी नागरिकता कौन पहचान पाता है!

यही वजह है कि भारत के टीवी कार्यक्रम, हिंदी गाने और फिल्में पाकिस्तान के अपने कार्यक्रमों से ज्यादा लोकप्रिय हैं। पाकिस्तान के कलाकार मुंबई आकर भारतीय टीवी कार्यक्रमों में बड़ी सहजता से शिरकत कर जाते हैं। किसी जमाने में पाकिस्तान के टीवी नाटक भारत में बहुत देखे जाते थे। हमारे यहां आज भी उर्दू संवादों वाली पुरानी फिल्मों- 'मुगले आजम' सहित- को हिंदी फिल्में कहा जाता है; साहिर-मजरूह का कलाम हो या शैलेंद्र-नीरज का, सब हिंदी गाने कहकर पुकारे जाते हैं।

मुशायरों में गैर-उर्दू समाज की शिरकत उर्दू जानने वालों से ज्यादा होती है। भारत में हिंदी समाज को जितनी गजलें कंठस्थ हैं, हिंदी काव्य के अंश कम होंगे। डॉ. नामवर सिंह जैसे विद्वान भाषणों में हिंदी कवित्त के मुकाबले उर्दू के शेर ज्यादा सुनाते हैं। एक उर्दू शायर ने बताया कि हिंदी (नागरी) में उर्दू शायरी की जितनी खपत है, खुद उर्दू में नहीं है।

सबसे अहम बात यह है कि हिंदी में उर्दू काव्य का अनुवाद नहीं किया जाता, सिर्फ लिप्यांतर होता है। जटिल शब्दों के अर्थ गजल या नज्म के अंत में दे दिए जाते हैं। महज लिप्यांतर से दुनिया की किसी और भाषा का साहित्य इतना पढ़ा गया होगा, मुझे नहीं मालूम। बहुत-सा हिंदी साहित्य भी उर्दू में इसी तरह जा सकता था- हिंदी फिल्मों की तरह- लेकिन उर्दू के भाषा-चिंतक हिंदी विचारकों से ज्यादा

पिछड़े साबित हुए। पाकिस्तान और वहां उर्दू की सच्ची-झूठी प्रतिष्ठा ने भारत में एक अजीब उदासीनता का समां पैदा कर दिया। पर वह अलग बहस का विषय है। बहरहाल, लिपि का भेद न हो तो आम हिंदी और उर्दू दोनों देशों और दोनों समाजों में परस्पर समझ ली जाती हैं।

गांधीजी इसी भाषा को भाषिक नामकरण या 'स्वतंत्र अस्तित्व' की राजनीति से बचाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने इसे हिंदी-उर्दू न कहकर हिंदुस्तानी कहा। हालांकि ज्यादातर वे खुद 'हिंदी' शब्द का प्रयोग करते थे, भले उनका आशय बोलचाल की भाषा से होता था। पिछले इतवार मैं साबरमती आश्रम गया। वहां एक प्रदर्शनी में हिंदी 'नवजीवन' के पहले अंक के संपादकीय को मढ़ा कर रखा गया है। गांधीजी ने 'हिंदी' को आम जनता की भाषा बताया और, उसी संपादकीय में, 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग भी किया। जाहिर है उनके सामने हिंदी और हिंदुस्तानी एक ही सिक्के के दो पहलू थे। अंगरेजी का मौजूं मुहावरा हैः नाम में क्या रखा है!

बृहस्पतिवार को जब मैं शंभुनाथ की टिप्पणी का जवाब लिख रहा था, बीच में टीवी पर पाकिस्तान की क्रिकेट टीम का आगमन देखा। जानते हैं, टीम के कप्तान शोएब मलिक ने दिल्ली पहुंचने की खुशी का इजहार कैसे किया? हिंदी पत्रकारों के सवाल सुनकर वे बोले, ''आकर बहुत अच्छा लगता है जी, यहां आप भी उर्दू बोलते हैं, वहां हम भी उर्दू बोलते हैं....!'' श्श्शश! उस अबोध को न बताएं कि हम गीर्वाणी बोलते हैं!